

JUNE 2011

Sunday Times of India, June 5, 2011

Village India leads the Way

These are little-known pockets of resistance, specks in the country's vast rural backyard where inhabitants have been asserting themselves and putting up a gritty fight for what's rightfully theirs and NGOs are invited and consulted, and every dissent as well as approval has to be explained. The gram sabha, however, is strictly for residents. "This power of the people is very important to us. There is a government in New Delhi and another in Mumbai. But for us the gram sabha is our local government which is equally important," explains Tofa, a school dropout who is now a celebrity of sort, being invited to deliver lectures to management students on the magic of people's power.

The village's success story is well documented. It stood up against an interstate hydroelectric project that was being planned in the neighborhood. The project had no utility for Mendha but would have deprived them of their source of livelihood. Mendha fought against it till the proposal was

dropped by the government. Similarly, in 1991, it stood up against the government's plan to lease out the forest to a private paper mill that had worked out a deal to get bamboo dirt cheap from the forest department.

"Till the night of April 26, forest officials were resisting the move to hand over power to the village. Just a month before that, when we organized a sale of bamboo to assert our rights, forest officials booked cases against us and the local congress MLA, Dr. Namdeo Usendi, who purchased bamboo in the symbolic protest. Even today, they snoop around raising objections on the quantity of bamboo we can cut. Apparently, they are yet to reconcile with their new roles as facilitators and not the tormentors they used to be," says Hiralal.

With the recognition of its rights, Mendha is now a showcase of people's power that brooks no patronage or dependence on political bureaucracy.



खेती की खतरनाक खरीद

औद्योगिक विकास के नाम पर कृषि योग्य भूमि के अंधाधुंध अधिग्रहण के गंभीर खतरे गिना रहे हैं देविंदर शर्मा

1996 में विश्व बैंक के तत्कालीन उपाध्यक्ष और अंतरराष्ट्रीय कृषि अनुसंधान सलाहकार समूह के अध्यक्ष डॉ. इस्माइल सेरेगेल्डिन ने एक बयान जारी किया। उन्होंने कहा कि विश्व बैंक का आकलन है कि अगले बीस वर्षों में भारत में ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्रों में विस्थापन करने वालों की संख्या फ्रांस, ब्रिटेन और जर्मनी की कुल आबादी के दोगुने से भी अधिक हो जाएगी। ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी की कुल आबादी करीब 20 करोड़ है। इस प्रकार विश्व बैंक का मानना था कि 2015 तक भारत में 40 करोड़ लोग गांवों से शहरों में चले जाएंगे। मैंने समझा कि यह एक चेतावनी है, किंतु जब मैंने इसके बाद की विश्व बैंक की अन्य रपटों का अध्ययन किया तो मुझे उसके असल इरादों का भान हुआ। दरअसल, विश्व बैंक इस प्रक्रिया को रोकना नहीं, तेज करना चाहता था। 2008 में जारी विश्व विकास रिपोर्ट में विश्व बैंक ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया कि भारत में भूमि की किरायेदारी शुरू होनी चाहिए। इसके अनुसार, भूमि बहुत ही महत्वपूर्ण संसाधन है, किंतु यह ऐसे लोगों (किसानों) के हाथों में केंद्रित है, जो इसका कुशलतापूर्वक उपयोग नहीं करते। विश्व बैंक का कहना है कि इन लोगों को इन संसाधनों से बेदखल कर देना चाहिए और भूमि उन लोगों को सौंप देनी चाहिए जो इसका कुशलता से उपयोग कर सकें और वास्तव में ये लोग कॉरपोरेट क्षेत्र के ही हो सकते हैं। किसानों को उनकी जमीन से बेदखल करने की यह प्रक्रिया लंबे समय से चल रही है और अब अपने चरम पर पहुंच गई है। जिस तेज रफ्तार से सरकार भूमि अधिग्रहण के माध्यम से किसानों को जमीन से बेदखल कर रही है इससे विश्व के सामने खाद्य सुरक्षा का संकट गहराता जा रहा है। दुर्भाग्य से हमें यह समझाने की कोशिश की जाती है कि खाद्य उत्पादन के मोर्चे पर घबराने वाली कोई बात नहीं है, क्योंकि कॉरपोरेट जगत खाद्यान्न का कुशलतापूर्वक उत्पादन कर सकता है। मुख्यतः इसी मंशा से 1995 में विश्व व्यापार

संगठन के अस्तित्व में आने के बाद से विकासशील देशों में धनी देशों की ओर से अनुदानित और सस्ती दरों पर खाद्यान्न के आयात की बाढ़ आ गई है। इसी प्रकार मुक्त व्यापार समझौतों के नाम पर द्विपक्षीय समझौते और क्षेत्रीय व्यापार संधियों के माध्यम से विकासशील देशों में औद्योगिकीय उत्पादित खाद्यान्न और खाद्य उत्पादों के लिए बाजार विकसित किया जा रहा है। इस प्रकार भूमि और जीविकोपार्जन केंद्रीय मुद्दों में तब्दील हो चुके हैं। ग्रामीण भारत से 40 करोड़ लोगों के संभावित विस्थापन से भारत अब तक विश्व में हुए सबसे बड़े पर्यावरणीय विस्थापन का साक्षी बन जाएगा। यह अवधारणा केवल भारत तक ही सीमित नहीं रहेगी, बल्कि एक बड़ा क्षेत्र इसकी चपेट में आ जाएगा। मेरा अनुमान है कि आने वाले वर्षों में भारत और चीन के 80 करोड़ लोग गांवों से शहरों की ओर कूच कर जाएंगे। जिन करोड़ों लोगों को विस्थापन के लिए मजबूर किया जा रहा है उन्हें कृषि शरणार्थी कहा जा सकता है। क्या हम समझ सकते हैं कि विश्व किस दिशा में जा रहा है? क्या हम अनुमान लगा सकते हैं कि इस भयानक रफ्तार से विस्थापन के कारण कितने गंभीर सामाजिक-आर्थिक और साथ ही राजनीतिक संकट खड़े हो सकते हैं? इसके बजाय हमें बताया जा रहा है कि बढ़ता शहरीकरण वैश्वीकरण और आर्थिक संवृद्धि का अपरिहार्य परिणाम है। हमें बार-बार बताया जा रहा है कि वैश्वीकरण ने

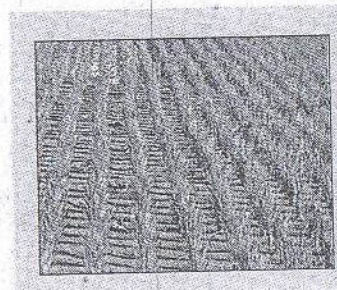
राष्ट्रीय सीमाओं का अंत कर दिया है। यह सुनने में अच्छा लग सकता है, किंतु मुझे लगता है कि आने वाले कुछ बरसों में राष्ट्रों की सीमाएं धुंधली होने के बजाए और गहरी व लंबी हो जाएंगी। विकासशील देशों में जिस रफ्तार से और जिस हद तक भूमि हड़पने का सिलसिला चल रहा है वह चिंता का विषय है। उदाहरण के लिए एक भारतीय कंपनी ने अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में तीन हजार वर्ग किलोमीटर भूमि हासिल कर ली है। यह क्षेत्र बहुत से छोटे देशों के क्षेत्रफल से भी अधिक है। एक दिन इस भूमि के मालिक झंडा फहराकर यह घोषणा कर सकते हैं कि यह एक स्वतंत्र राष्ट्र है। आप इस संभावना को खारिज कर सकते हैं, किंतु हमें अधिक सावधानी से काम लेना होगा। देर-सबेर समाज कृषि, खाद्य सुरक्षा और भूमि संसाधन की सच्चाई से रूबरू होगा। जितना जल्द यह होगा, उतना ही बेहतर होगा।

समस्या यह है कि हम इस तरह के गंभीर मुद्दों पर किसी खास नजरिये और परिप्रेक्ष्य में ही विचार करते हैं, जबकि जमीनी सच्चाई यह है कि ये मुद्दे बहुआयामी और बहुकोणीय होते हैं। जब तक हम ऐसा करने में सफल नहीं होंगे तब तक हम सही संदर्भ में विशिष्ट विचार प्रस्तुत करने में सफल नहीं होंगे। मैं जिन मंचों पर जाता हूँ उनमें यह व्यापक सोच नदारद नजर आती है। शायद यही कारण है कि हम अंतरदृष्टि और सार्थकता के साथ असल मुद्दों से भटक जाते

हैं। कृषि-व्यापार से यह प्रतीत होता है कि भारत और चीन जैसे देशों को अन्य देशों में अधिक खाद्य उत्पादन करना चाहिए। चर्चे लू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत और चीन द्वारा विदेशों में भूमि की खरीदारी को न्यायोचित ठहराया जा रहा है। अधिक खाद्यान्न उत्पादन की जरूरत के मद्देनजर भारी-भरकम कृषि भूमि की खरीदारी की वकालत की जा रही है। आज लैटिन अमेरिका, अफ्रीका और एशिया में शायद ही कोई देश हो जिसकी भूमि न हड़पी जा रही हो। भुखमरी और कुपोषण के शिकार इथियोपिया में आठ हजार से अधिक कंपनियों जमीन हथियाने के प्रयास में हैं। यह देश पहले ही 2000 कंपनियों को 27 लाख हेक्टेयर भूमि आवंटित कर चुका है, जिसमें भारत की कंपनियां भी शामिल हैं। ये कंपनियां इथियोपिया के लिए खाद्यान्न का उत्पादन नहीं करेंगी, बल्कि इसका निर्यात करेंगी। यहां से उत्पादित खाद्यान्न की पहली खेप सऊदी अरब भेजी भी जा चुकी है, जबकि इस देश की जनता दाने-दाने की मोहताज है।

यह मुझे इतिहास के काले अध्याय की याद दिलाता है। कुछ दशक पहले आयरलैंड के अकाल की 150वीं वर्षगांठ के आयोजन में मैंने भाग लिया। यह अकाल 19वीं सदी के मध्य में पड़ा था। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए शहर के मेयर ने कहा था कि मैं हैरान हूँ कि उस समय कितने बर्बर लोग थे। लोग भूख से मर रहे थे और फिर भी खाद्यान्न के बोरे के बोरे इंग्लैंड भेजे जा रहे थे। मुझे नहीं लगता कि समाज की इस बर्बर प्रकृति में कोई अंतर आया है। आने वाले समय में हम और भी बर्बर समाज में रहेंगे। इथियोपिया में जिस तरह भूमि हड़पी जा रही है, यह बर्बरता से कम नहीं है। देश में लोग भूख से मर रहे हैं और कंपनियों के पास खाद्यान्न के निर्यात की कानूनी अनुमति है। भविष्य में ऐसे और भी उदाहरण देखने को मिलेंगे।

(लेखक कृषि एवं खाद्य नीतियों के विश्लेषक हैं)



झूठा दिलासा

• दुर्भाग्य से हमें यह समझाने की कोशिश की जाती है कि खाद्य उत्पादन के मोर्चे पर घबराने वाली कोई बात नहीं है, क्योंकि कॉरपोरेट जगत खाद्यान्न का उत्पादन कर सकता है